Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 01, June 2021
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org
© The Author(s) 2021
UGC CARE listed Journal

संगीत का विस्तार क्षेत्र

Dr. Rita Dhankar

Associate Professor, Bhagini Nivedita University, Delhi University Kair, New Delhi

शोध सार

वैदिक युग में सामगीत के गायन का प्रचलन था। ऋषि थकान को दूर करने के लिए वे इस गान का उपयोग करते थे। पौराणिक युग में वैदिक स्वरों के उच्चारण की जटिलता समाप्त हो गई। लोक भावना से भीगे छन्दों में निबद्ध गीतों को गाने लगे, जिसे कालान्तर में भक्ति संगीत की संज्ञा दी गई। स्मृतिकाल में गीत ने अपने स्वरूप में थोड़ा और परिवर्तन किया। अब गीत का क्षेत्र केवल देव तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु मांगलिक कार्यों तथा विवाह, जन्मोत्सव आदि अवसरों पर इसका प्रयोग होने लगा। इस प्रकार हर काल में संगीत के क्षेत्र में परिवर्तन आता रहा। गायन, वादन, नृत्य तीनों का प्राचीन काल से ही विभिन्न क्षेत्रों में अलग अलग प्रकार से उपयोग होता रहा है। संगीत के मूल तत्व हर काल में समान ही रहे हैं।

बीज शब्दः संगीत, गायन, वाद्य, नृत्य।

भूमिका

भारतीय संगीत की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों के जो मत प्राप्त होते हैं, वे प्रायः धार्मिक हैं अथवा किंवदंतियों पर आधारित हैं। ऐतिहासिक आधार पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का उद्‌गम स्थल सामवेद माना जाता है। उस काल में यज्ञ आदि अवसरों पर साम–गायन करने की विशेष परम्परा थी। कालान्तर में यही सामवेद संगीत विकास क्रम से आधुनिक शास्त्रीय संगीत के रूप में परिणत हो गया।

संगीत की व्युत्पत्ति

'संगीत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है सम् + गी + त। संगीत की व्याख्या 'सम्यक गीतः संगीतः' इस प्रकार की जाती है 'सम' उपसर्ग सम्पूर्णता का भी बोधक है। गीत तभी सम्पूर्ण रूप से प्रभावोत्पादक होता है जब उसके साथ उसके अन्य अंगों का भी प्रयोग हो। अतः इसको आधार मानकर भी संगीत के आचार्यों ने गीत के साथ नृत्य तथा वाद्य को सम्मिलित कर लिया क्योंकि गेयता की अभिव्यंजना वाद्य एवं नृत्य में पूर्ण होती है। इसके अभाव में गीत की स्वर लहर पूर्ण प्रभावोत्पादिक नहीं होती है। अतः वाद्य एवं नृत्य गीत के अलंकरण हैं। इसी कारण गीत ऐसी सुरागवती वस्तु का विन्यास बिना वाद्य एवं नृत्य के सहयोग के सम्यक रूप से प्रभावकारी नहीं हो सकता है। एतदर्थ जबकि 'संगीत शब्द में नृत्य एवं वाद्य शब्दों या ध्वनियों की व्याकरण या भाषा विज्ञान की दृष्टि से कुछ भी संकेत नहीं हैं, तदर्थ ही भाषा की लक्षण–शक्ति, के आधार पर शाङ्र्गदेव आदि संगीताचार्यों ने गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों को (संगीत) कहा।

संगीत का विस्तार क्षेत्र

'गी' क्रिया में 'क्त' प्रत्यय लगाने पर 'गीत' शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ होता है 'गानम्' अर्थात् गायन वैदिक युग में सामगीत के गायन का प्रचलन था। सायंकाल के समय ऋषि लोग इसका गायन करते थे। यज्ञ के पश्चात् वे थकान का अनुभव करते थे। थकान को दूर करने के लिए वे इस गान का उपयोग करते थे।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 01, June 2021
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org
© The Author(s) 2021
UGC CARE listed Journal

पौराणिक युग में वैदिक स्वरों के उच्चारण की जटिलता समाप्त हो गई। लोक भावना से भीगे छन्दों में निबद्ध गीतों को गाने लगे, जिसे कालान्तर में भक्ति संगीत की संज्ञा दी गई। स्मृतिकाल में गीत ने अपने स्वरूप में थोड़ा और परिवर्तन किया। अब गीत का क्षेत्र केवल देव तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु मांगलिक कार्यों तथा विवाह, जन्मोत्सव आदि अवसरों पर इसका प्रयोग होने लगा। महाकाव्य काल में गीत मनोविनोद का साधन बन गया। लोग श्रृंगार सम्बंधी वस्तुओं का अधिकाधिक उपयोग करने लगे। इस युग के गीतों में श्रृंगारिक भाव प्रचुर मात्रा में होता है। कालिदास–रचित 'मेघदूत' इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। खड़ी बोली के पूर्व काल में संस्कृत भाषा का प्रभाव बढ़ने लगा। अब उत्तर भारत के लोग अवधी आदि प्रादेशिक भाषाओं में भक्ति और श्रृंगार सम्बंधी गीतों की रचना करने लगे। इसी युग में बंगाल प्रान्त में मनोरम स्वरलहरी का सामंजस्य पाकर संस्कृत भाषा और भी मधुर ढंग से निनादित होने लगी। इसका ज्वलन्त उदाहरण है कि कवि जयदेवकृत 'गीत गोविन्द' उन्होंने राधा–कृष्ण की वन्दना लौकिक संस्कृत के छन्दों में अनुबद्ध किया और अपनी रचना 'गीत–गोविन्द' को संगीत स्वरों का वस्त्र पहनाकर अधिकाधिक अलंकृत किया जो आज भी संगीत जगत के बीच अनुकरणीय एवं स्पृहणीय वस्तु बनी हुई है। बिहार प्रान्त में विद्यापति ने मैथली भाषा में अपने भावभीनी गीतों की रचना करके उसे लोक–धुनों के ताना–बाना से बुना, जिसके कारण उनके गीत एक सामान्य व्यक्ति के भी हृत्–तन्त्री को स्पन्दित करने में समर्थ हो सके। उनके गीत अभी भी वहां के जन समाज में सर्वाधिक प्रचलित हैं तथा उसे अत्यंत उत्साह पूर्वक गाया जाता है।

खड़ी बोली के काल में भाषा की मंजुलता तो समाप्त हो गई, किन्तु देश की स्वतंत्रता तथा जन–स्वीकृति ने इस भाषा का अनुमोदन किया। इसमें वही पुरातन छन्द कविता का रूप धारण करने लगे। ये ही कविताएं आधुनिक युग में शास्त्रीय स्वर लहरियों से आच्छादित होकर जन–मन को अनुरंजित कर रही है।

वाद्य का विस्तार क्षेत्र

'वद्' धातु से 'वाद्य' शब्द की उत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है सुस्पष्ट बोलना। यों तो कोई भी वाद्य कलाकार के अभाव या अनुपस्थिति में किसी अन्य साधनों के माध्यम से भी कुछ बोल सकता है अर्थात् ध्वनि उत्पन्न कर सकता है, किन्तु उस बोल या ध्वनि का कोई सांगीतिक अर्थ नहीं होगा। वे ही वाद्य जब कलाकार की गरिमा से मण्डित होते हैं, तब वे स्वर एवं लय–ताल के सन्निवेश से मुखरित होकर अपार आनन्द प्रदान करते हैं तथा हर्ष, उल्लास, शोक आदि भावों के अभिव्यंजक बन जाते हैं। एतदर्थ, वाद्य शब्द अपने यथार्थ रूप को प्राप्त कर लेता है।

ऋग्वैदिक काल यज्ञ–यज्ञादित का युग था। किन्तु उस काल में भी भौतिक आन्नद की एक स्वाभाविका लिप्सा जनमानस के अन्तराल में गूंजती रहती थी। वैदिक कालीन ऋषि–महर्षि नदियों की कल–कल तथा छल–छल निनाद से आनन्दित होते थे तो कहीं पक्षियों के विविध कलखें से आपूरित होकर संगीत–स्वरों की कल्पना करते थे। वे पत्थरों तथा धातुओं की झंकार से भी आनन्दातिरेक से संगीत–स्वर की कल्पना करने का सुअवसर प्राप्त करते थे।

धीरे–धीरे उनकी कल्पना ने नूतन मोड़ को गृहण किया और प्रकृति–प्रदत्त जो वस्तुएँ सुलभ थीं, उनके आधार पर उन्होंने अपने आराध्य देवों के वाद्यों की संरचना किया। इन्द्र, विष्णु तथा रूद्र, जो उस युग के परम

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 01, June 2021
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org
© The Author(s) 2021
UGC CARE listed Journal

शक्तिशाली देवों में से थे, उनके स्वरूप के अनुसार ही उन्हें विभिन्न वाद्यों को धारण कराया गया। रूद्र को 'डमरू', विष्णु को 'शंख' एवं इन्द्र को 'तडित' इसी उद्देश्य से प्रदान किया गया।

महाकाव्य काल में वाद्यों का जीव–जन्तुओं के साथ भी संबंध स्थापित कराया गया। वैदिक युग में तो शक्तिशाली देव ही वाद्य कला को अपनाए हुए थे किन्तु इस युग में यह कला इतनी लोकप्रिय हुई कि साधारण जीव–जन्तु से लेकर पेड़–पौधों तक से इसका घनिष्ठ संबंध स्थापित कराया गया।

इसके पश्चात् महावीर एवं गौतम बुद्ध ये दोनों महान् तपस्वी हुए। वे अपने प्रारम्भिक जीवन में तो गायन–वादन तथा नृत्य की आसक्ति से आबद्ध रहे, किन्तु ज्ञान प्राप्त होने पर उन्होंने इसे आसक्ति का कारण बतलाया। अतः इस युग में गीत एवं वाद्य आदि का उत्कर्ष समाज में बहुत अधिक नहीं हो पाया।

पौराणिक देवताओं के लिए उनकी रूचि एवं स्वरूप के अनुसार विभिन्न वाद्यों की सृष्टि हुई। कौन देव किस वाद्य से विशेष प्रसन्न होते हैं इसका भी विभाजन हुआ और अराधना के लिए उन वाद्यों का विशेष प्रचार–प्रसार हुआ।

परवर्तीकालीन कई राजाओं ने वाद्यों के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। समुद्रगुप्त की वीणा जगत्–प्रसिद्ध है। कौटिल्य के काल में तो गुप्तचरों के लिए आदेश था कि वे अवसर मिलने पर संगीतज्ञों का वेश धारण करके शत्रु के किले में निवास करें तथा उनके आक्रमण की सूचना शंख, दुन्दुभि आदि के वादन से दें। कौटिल्य ने वीणा–वेणु–मृदंगवादन को कला के अंतर्गत उल्लेख कर वाद्यों के महत्व को उजागर किया है।

आधुनिक काल में वाद्यों की सत्यता सर्वव्यापी हो गई है। संगीत–स्थलों सामाजिक रीतियों तथा अन्य सभी प्रकार के उत्सवों पर विभिन्न वाद्यों का वादन किया जाना अत्यंत स्वाभाविक हो गया है।

नृत्य का विस्तार क्षेत्र

'नटनर्तन'–अर्थात् 'नट' शब्द का अर्थ है 'नर्तन करना'। नर्तन विकसित हृदय के प्रफुल्लता का केन्द्र–बिन्दु है। संस्कृत साहित्य में रूद्र सबसे नट माने जाते हैं क्योंकि वाद्य के साथ–साथ नर्तन करना उनका प्रमुख मनोविनोदात्मक कार्य था। इसीलिए उन्हें 'नटराज' की संज्ञा प्रदान की गई। वे अक्सर डमरू बजाते थे और नृत्य करते थे। अंगों का संचालन मात्रा विक्षेप मात्र ही 'नृत्य' कहलाता है और शास्त्रीय विधि का अवलम्बन लेकर आंगिक आदि का अभिनय करना, जिससे भाव की अभिव्यक्ति होती हो, नृत्य कहलाता है। इस प्रकार से नृत्य आनन्द का प्रधान श्रोत है। पौराणिक कथाओं के अनुसार भगवान शिव की अर्द्धांगिनी पार्वती की प्रसन्नता का विशय भी नृत्य ही था। पौराणिक युग में नृत्य का बहुत ही विस्तार हुआ। जब देवताओं एवं असुरों ने समुद्र–मंथन किया था तो भगवान विष्णु ने नर्तकी का ही वेश धारण करके अपनी भावभीनी मुद्रा से राक्षसों को मोहित कर लिया था तथा मंथन से प्राप्त अमृत समस्त देवताओं को पिला दिया था।

महाकाव्य काल में समाज के विभिन्न मांगलिक उत्सवों पर भी नृत्य का बहुत आयोजन होने लगा। श्रीराम के जन्मोत्सव आदि के अवसर पर नृत्य की लीला अपनी समा बाँधे रहती थी। लोग उन नर्तन करने वाली सुन्दरियों के हाव–भाव पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने को तत्पर रहते थे।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 01, June 2021
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org
© The Author(s) 2021
UGC CARE listed Journal

संस्कृत साहित्य में नृत्यकला का इतना विशद् वर्णन हुआ है, जो अन्य किसी साहित्य में दुर्लभ है। आज भी हम यह देखते हैं कि समस्त प्राणि जगत में नृत्य बहुत व्यापक रूप से व्याप्त है। यहाँ तक कि मयूर मेघ को देखकर एवं भुजंग सपेरों के बीन–वादन को सुनकर अपनी प्रसन्नता अपने नृत्य के द्वारा ही अभिव्यंजित करते हैं। मानव द्वारा जिन नृत्यों को गृहण किया गया, उसके अनेकानेक रूप हैं। लोगों के द्वारा अपनी–अपनी रुचि के अनुसार उसके भेद–प्रभेद अपना लिए गए हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत के कत्थक, भरतनाट्यम, ओडीसी आदि नृत्य सम्पूर्ण विष्व में अपनी छटा बिखेरे हुए हैं। पंजाब का भंगड़ा, गुजरात का गरबा तथा उत्तर प्रदेश का रास नृत्य आदि लोक जन–मानस को सर्वदा आप्लावित एवं उद्वेलित करते रहते हैं।

संगीत के मूल तत्व

संगीत की तीन विधाएं हैं– गीत, वाद्य एवं नृत्य। संयोग की बात है कि संगीत के तीन ही तत्व भी हैं–स्वर, ताल और पद।

'स्वर' संगीत–जगत का स्पन्दन है, जिसके अभाव में संगीत का जीवन ही व्यर्थ है। जिस प्रकार ताल संगीत जगत के लिए महत्वपूर्ण है उसी प्रकार पद भी संगीत जगत के लिए बहुत महत्व रखता है। जिस प्रकार कितना ही सुन्दर शरीर क्यों न हो, किन्तु पैर के अभाव में वह चल फिर नहीं सकता है, उसी प्रकार से स्वर और ताल के रहने पर भी पद के बिना पंगु और बधिर हैं। उक्त विशेषताएं शास्त्रीय गायन एवं नृत्य के लिए पूर्णरूपेण चरितार्थ होती हैं किन्तु वाद्य संगीत की अब एक अलग परम्परा स्थापित हो जाने के कारण वहाँ की स्थिति कुछ भिन्न हो गई है। वहाँ भी पद की सार्थकता उतनी ही है जितनी कण्ठ संगीत एवं नृत्य में है। जब वाद्य संगीत के निरर्थक पद विभिन्न स्वर लहरियों तथा तानों के संयोग से आच्छादित हो जाते हैं तब वे ही सार्थक बन जाते हैं।

संगीत के आचार्य भरत ने गन्धर्व को स्वर–ताल–पदात्मक कहा है। नकार रूपी प्राण एवं दकार रूपी अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है। यह नाद आहत और अनाहत इन दो रूपों में अनुभव किया जाता है। आहत नाद वस्तुओं के आघात और संघर्षण से उत्पन्न होता है। अनाहत नाद प्रकृति द्वारा समस्त सृष्टि में व्याप्त होता है। संगीत में जिस आहत नाद की चर्चा होती है, वह स्वयं अपने में मधुर, स्निग्ध तथा अनुकरनात्मक होता है। गायन में नाद के रूप की साधना मानवीय कण्ठ के द्वारा की जाती है। वादन में नाद के रूप की साधना काण्ठ, वशं, तन्त्री, चम्र आदि से युक्त किसी यन्त्र पर की जाती है। इस प्रकार गायन एवं वादन में नाद का प्रत्यक्ष संबंध होता है। नृत्य में नाद का संबंध होता है। नृत्य के विभिन्न भाव भंगिमाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए गायन का अवलम्बन लेना पड़ता है। जिसे प्रायः नृत्यकार से भिन्न कुछ व्यक्ति सम्पादित करते हैं। इस तरह गायन, वादन एवं नृत्य–इन तीनों में 'नाद' का विशेष महत्व है। इसी नाद से श्रुति तथा उन्हीं श्रुतियों से संगीत के विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति होती है। इन स्वरों के नाम क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद हैं। जो ध्वनि नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा तथा दन्त इन छः स्थानों से उत्पन्न होता है, उसे 'षड्ज' कहा जाता है। इसी तरह अन्य स्वरों के नाम भी उसके भिन्न–भिन्न गुणों के आधार पर रखा गया। गायन–वादन के व्यवहार को सरलतापूर्वक चलाने के लिए षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद स्वरों के प्रारम्भिक अक्षर क्रमशः स, रे, ग, म, प, ध, नि को ग्रहण किया गया।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 01, June 2021
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org
© The Author(s) 2021
UGC CARE listed Journal

'ताल' शब्द तल् धातु से बना है। तल का अर्थ उस भाग से होता है जिसके बल पर कोई वस्तु टिकी या स्थित रहती है। भारतीय संगीत के अंतर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों की प्रतिष्ठा 'ताल' पर ही होती है जो संगीत की अपनी निजी विशेषता है। आधुनिक भारतीय संगीत में तालों की प्रतिष्ठा प्रमुख रूप से तबला, परवावज, मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों एवं मंजीरा घुंघरू मोर्सिंग (मुहचगं) आदि घन वाद्यों पर की जाती है।

सन्दर्भ

शाङ्र्गदेव. (1951). संगीत रत्नाकर. एस.एस. शास्त्री, मद्रास.
गान्धर्व त्रिविधं विद्यात्सवरतालपदात्मकम्'': नाट्यशास्त्र, 18 वां अध्याय। चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1929.
मिश्र, लालमणि. (1973). भारतीय संगीत वाद्य. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली.
चक्रवर्ती, इन्द्राणी. (1979). स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान. प्रकाशन चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी.
सिंह, ललित. किशोर. (1962). ध्वनि और संगीत. प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, काशी.
निगम, विक्रमादित्य. सिंह. और निगम, केसर. कुमारी. संगीत कौमुदी, लखनऊ.
परांजये, शरच्चन्द्र. श्रीधर. (1980). संगीत बोध. मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल.
राजुरकर, गोविन्द. राव. (1982). संगीत शास्त्र पराग. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.